

आचारांगसूत्र : एक विश्लेषण

आचारांगसूत्र जैन-आगम साहित्य का एक प्राचीनतम ग्रन्थ है, यह अर्धमागधी में लिखा गया है, किन्तु इसके प्रथम और द्वितीय श्रुतस्कन्ध की भाषा एक दूसरे से पूर्णतया भिन्न है। जहाँ प्रथम श्रुतस्कन्ध में अर्धमागधी का प्राचीनतम रूप परिलक्षित होता है वहाँ द्वितीय श्रुतस्कन्ध प्रथम श्रुतस्कन्ध की अपेक्षा भाषा की दृष्टि से परवर्ती और विकसित लगता है। यद्यपि आचारांग मूलतः अर्धमागधी प्राकृत का ग्रन्थ है किन्तु उस पर महाराष्ट्री प्राकृत का प्रभाव आ गया है फिर भी प्रथम श्रुतस्कन्ध में यह प्रभाव नगण्य ही है। मेरी दृष्टि में इस प्रभाव का कारण मूलतः एक लम्बी अवधि तक इसका मौखिक बना रहना है। यह भी सम्भव है कि जो अंश स्पष्ट रूप से और सम्पूर्ण रूप से महाराष्ट्री के हैं वे बाद में जोड़े गये हों। यद्यपि इस सम्बन्ध में निश्चयात्मक रूप से कुछ भी कह पाना कठिन है। फिर भी भाषा सम्बन्धी इस प्रभाव का कारण उपर्युक्त दोनों विकल्पों में से ही है। प्रथम श्रुतस्कन्ध मूलतः औपनिषदिक सूत्रात्मक शैली में लिखा गया है जबकि दूसरा मुख्य रूप से विवरणात्मक और पद्यरूप में है। प्रथम श्रुतस्कन्ध की जो भाषा है वह गद्य और पद्य दोनों से भिन्न है। यद्यपि प्रथम श्रुतस्कन्ध में भी पद्य कुछ आ गये हैं फिर भी उसकी सूत्रात्मक शैली दूसरे श्रुतस्कन्ध की शैली से भिन्न है। हमें तो ऐसा लगता है कि प्राकृत ग्रन्थों की रचना में सर्वप्रथम आचारांग की प्रथम श्रुतस्कन्ध की सूत्रात्मक शैली का विकास हुआ, फिर सहज पद्य लिखे जाने लगे, फिर उसके बाद विकसित स्तर के गद्य लिखे गये। भाषा और शैली के विकास की दृष्टि से आचारांग के दोनों श्रुतस्कन्धों में लगभग तीन शताब्दियों का अन्तर तो अवश्य रहा होगा। आचारांग में आचार के सिद्धान्तों और नियमों के लिये जिस मनोवैज्ञानिक आधारभूमि और मनोवैज्ञानिक दृष्टि को अपनाया गया है, वह तुलनात्मक अध्ययन के लिये अद्भुत आकर्षण का विषय है।

आचारांगसूत्र का प्रतिपाद्य विषय श्रमण-आचार का सैद्धान्तिक एवं व्यावहारिक पक्ष है। चूँकि मानवीय आचार मन और बुद्धि से निकट रूप से जुड़ा हुआ है, अतः यह स्वाभाविक है कि आचार के सम्बन्ध में कोई भी प्रामाणिक चिन्तन मनोवैज्ञानिक सत्यों को नकार कर आगे नहीं बढ़ सकता है। हमें क्या होना चाहिये—यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि हम क्या हैं और क्या हो सकते हैं? हमारी क्षमताएं एवं सम्भावनाएं क्या हैं? आचरण के किसी साध्य और सिद्धान्त का निर्धारण साधक की मनोवैज्ञानिक प्रकृति को समझे बिना सम्भव नहीं है। हमें यह देखना है कि आचारांग में आचार के सिद्धान्तों एवं नियमों के प्रतिपादन में किस सीमा तक इस दार्शनिक, मनोवैज्ञानिक एवं समाजशास्त्रीय दृष्टि का परिचय दिया गया है।

अस्तित्व सम्बन्धी जिज्ञासा : मानवीय बुद्धि का प्रथम प्रश्न

आचारांगसूत्र के उत्थान में ही हमें उसकी दार्शनिक दृष्टि का

परिचय मिल जाता है। सूत्र का प्रारम्भ ही अस्तित्व सम्बन्धी मानवीय जिज्ञासा से होता है। पहला ही प्रश्न है—

अत्थि मे आया उववाइए, नत्थि मे आया उववाइए।

के अ आसी के वा इओ चुओ इ पेच्चा भविस्सामि।।

१।१।१।३

इस जीवन के पूर्व मेरा अस्तित्व था या नहीं अथवा इस जीवन के पश्चात् मेरी सत्ता बनी रहेगी या नहीं? मैं क्या था और मृत्यु के उपरान्त किस रूप में होऊँगा? यही अपने अस्तित्व का प्रश्न मानवीय जिज्ञासा और मानवीय बुद्धि का प्रथम प्रश्न है, जिसे सूत्रकार ने सर्व प्रथम उठाया है। मनुष्य के लिये मूलभूत प्रश्न अपने अस्तित्व या सत्ता का ही है। धार्मिक एवं नैतिक चेतना का विकास भी इसी अस्तित्व-बोध या स्वरूप-बोध पर आधारित है। मनुष्य की जीवन-दृष्टि क्या और कैसी होगी, यह बहुत कुछ इस बात पर निर्भर करता है कि अपने अस्तित्व, अपनी सत्ता और स्वरूप के प्रति उसका दृष्टिकोण क्या है? पाप और पुण्य अथवा धर्म और अधर्म की सारी मान्यताएँ अस्तित्व की धारणा पर ही खड़ी हुई हैं। इसीलिये सूत्रकार ने कहा है कि जो इस “अस्तित्व” या स्व-सत्ता को जान लेता है वही आत्मवादी है, लोकवादी है, कर्मवादी है और क्रियावादी है। (सोहं से आयावाई लोगावाई कम्मवाई किरियावाई—१।१।१।४-५) व्यक्ति के लिये मूलभूत और सारभूत तत्त्व उसका अपना अस्तित्व ही है, और सत्ता या अस्तित्व के इस मूलभूत प्रश्न को उठाकर ग्रन्थकार ने अपनी मनोवैज्ञानिक दृष्टि का परिचय दिया है। आधुनिक मनोविज्ञान में भी जिजीविषा और जिज्ञासा मानव की मूल प्रवृत्तियाँ मानी गयी हैं।

सत्य की खोज में सन्देह (दार्शनिक जिज्ञासा) का स्थान

यह कितना आश्चर्यजनक है कि आचारांग श्रद्धा के स्थान पर संशय को सत्य की खोज का एक आवश्यक चरण मानता है। सम्भवतया ऐसा प्रतीत होता है कि जैनधर्म के आरम्भिक काल में श्रद्धा का तत्त्व इतना प्रमुख नहीं था। आचारांग में “णिविखत्तदंढाणं समाहियाणं पन्नाणमंताणं इह मुत्तिमग्गं” (१।६।१) कहकर समाधि एवं प्रज्ञा के रूप में जिस मुक्ति मार्ग का विधान हुआ है, वह स्वयं इस बात का संकेत करता है कि उस समय तक दर्शन या सम्यग्दर्शन शब्द श्रद्धा का सूचक नहीं था। यद्यपि आचारांग में दंसण और सम्मत्तदंसी शब्दों का प्रयोग देखा जाता है, किन्तु मेरी दृष्टि में कहीं भी इसका प्रयोग श्रद्धा के अर्थ में नहीं हुआ है। अधिक से अधिक ये शब्द “दृष्टिकोण” या “सिद्धान्त” के अर्थ में प्रयुक्त हुये हैं, जैसे—एयं पासगस्स दंसणं (१।३।४)। वस्तुतः मनोवैज्ञानिक दृष्टि से किसी भी धार्मिक आन्दोलन में श्रद्धा का तत्त्व उसके परवर्ती युग में जबकि वह कुछ विचारों एवं मान्यताओं से आबद्ध हो जाता है, अधिक महत्वपूर्ण बन जाता है।

आचारांग में संशय का जो स्थान स्वीकार किया गया है वह दार्शनिक दृष्टि से काफी उपयोगी है। मानवीय जिज्ञासावृत्ति को महत्व देते हुए तो यहाँ तक कहा गया है कि “संशय परिआगओ संसारे परित्रये (१।५।१)” अर्थात् संशय के ज्ञान से ही संसार का ज्ञान होता है। आज समस्त वैज्ञानिक ज्ञान के विकास में संशय (जिज्ञासा) की पद्धति को आवश्यक माना गया है। संशय की पद्धति को आज एक वैज्ञानिक पद्धति के रूप में मान्यता प्राप्त है। ज्ञान के क्षेत्र में प्रगति का यही एकमात्र मार्ग है, जिसे सूत्रकार ने पूरी तरह समझा है। ज्ञान के विकास की यात्रा सन्देह (जिज्ञासा) से ही प्रारम्भ होती है, क्योंकि संशय के स्थान पर श्रद्धा आ गयी तो विचार का द्वार ही बन्द हो जाएगा, वहाँ ज्ञान की प्रगति कैसे होगी? संशय विचार के द्वार को उद्घाटित करता है। विचार या चिन्तन से विवेक जागृत होता है, ज्ञान के नये आयाम प्रकट होने लगते हैं। आचारांग ज्ञान की विकास यात्रा के मूल में सन्देह को स्वीकार करके चलता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जो यात्रा सन्देह से प्रारम्भ होती है, अन्त में श्रद्धा तक पहुँच जाती है। अपना समाधान पाने पर सन्देह की परिणति श्रद्धा में हो सकती है। इससे ठीक विपरीत समाधान-रहित अन्धश्रद्धा की परिणति सन्देह में होगी। जो सन्देह से चलेगा अन्त में सत्य को पाकर श्रद्धा तक पहुँच जाएगा, जबकि जो श्रद्धा से प्रारम्भ करेगा वह या तो आगे कोई प्रगति ही नहीं करेगा या फिर उसकी श्रद्धा खण्डित होकर सन्देह में परिणत हो जायगी। यह है आचारांग की दार्शनिक दृष्टि का परिचय।

आत्मा के स्वरूप का विश्लेषण

आत्मा के स्वरूप या स्वभाव का विवेचन करते हुए सूत्रकार ने स्पष्ट रूप से कहा है—जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया। जेण वियाणइ से आया। तं पडुच्च पडिसंखाये—१।५।५। इस प्रकार वह ज्ञान को आत्म-स्वभाव या आत्म-स्वरूप बताता है। जहाँ आधुनिक मनोविज्ञान चेतना के ज्ञान, अनुभूति और संकल्प ऐसे तीन लक्षण बताता है, वहाँ आचारांग केवल आत्मा के ज्ञान लक्षण पर बल देता है। स्थूल दृष्टि से देखने पर यही दोनों में अन्तर प्रतीत होता है, किन्तु अनुभूति (वेदना) और संकल्प यह दोनों लक्षण शरीराश्रित बद्धात्मा के हैं, अतः ज्ञान ही प्रथम लक्षण सिद्ध होता है। वैसे आचारांगसूत्र में तथा परवर्ती जैन ग्रन्थों में भी मनोविज्ञान सम्मत इन तीनों लक्षणों को देखा जा सकता है, फिर भी आचारांगसूत्र का आत्मा के विज्ञाता स्वरूप पर बल देने का एक विशिष्ट मनोवैज्ञानिक कारण है, क्योंकि आत्मा की अनुभूत्यात्मक एवं संकल्पात्मक अवस्था में पूर्णतः समभाव या समाधि की उपलब्धि सम्भव नहीं है, जब तक सुख-दुःखात्मक वेदना की अनुभूति है या संकल्प-विकल्प का चक्र चल रहा है, आत्मा पर भाव में स्थित होता है, चित्त समाधि नहीं रहती है। आत्मा का स्वरूप या स्वभाव धर्म तो समता है, जो केवल उसके ज्ञाता-द्रष्टा रूप में स्वरूपतः उपलब्ध होता है। वेदक और कर्ता रूप में वह स्वरूपतः उपलब्ध नहीं है।

मन का ज्ञान : साधना का प्रथम चरण

निर्ग्रन्थ साधक के लक्षणों का विवेचन करते हुए सूत्रकार कहता है—जो मणं परिजाणई से निग्गंथे जे मणे अपावए—२।१५।४५। जो मन को जानता है और उसे अपवित्र नहीं होने देता है, वही निर्ग्रन्थ है, इस प्रकार निर्ग्रन्थ श्रमण की साधना का प्रथम चरण है मन को जानना और दूसरा चरण है मन को अपवित्र नहीं होने देना। मन की शुद्धि भी स्वयं मनोवृत्तियों के ज्ञान पर निर्भर है। मन को जानने का मतलब है अन्दर झाँककर अपनी मनोवृत्तियों को पहचानना, मन की ग्रन्थियों को खोजना, यही साधना का प्रथम चरण है। रोग का ज्ञान और उसका निदान उससे छुटकारा पाने के लिये आवश्यक है। आधुनिक मनोविज्ञान की मनोविश्लेषण विधि में भी मनोग्रन्थियों से मुक्त होने के लिये उनको जानना आवश्यक माना गया है। अन्तर्दर्शन और मनोविश्लेषण आधुनिक मनोविज्ञान की महत्वपूर्ण विधियाँ हैं, आचारांग में उन्हें निर्ग्रन्थ साधना का प्रथम चरण बताया गया है। वस्तुतः आचारांग की साधना अप्रमत्तता की साधना है और यह अप्रमत्तता अपनी चित्तवृत्तियों के प्रति सतत् जागरूकता है। चित्तवृत्तियों का दर्शन सम्यग्दर्शन है, स्वस्वभाव में रमना है। आधुनिक मनोविज्ञान जिस प्रकार मानसिक स्वास्थ्य के लिये मनोग्रन्थियों को तोड़ने की बात कहता है उसी प्रकार जैन दर्शन भी आत्मशुद्धि के लिए ग्रंथि-भेद की बात कहता है। ग्रन्थि, ग्रन्थि-भेद और निर्ग्रन्थ शब्दों के प्रयोग स्वयं आचारांग की मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं। वस्तुतः ग्रन्थियों से मुक्ति ही साधना का लक्ष्य है—गंथेहिं विवतेहिं आउकालस्स पारए—१।८।८।११। जो ग्रन्थियों से रहित है वही निर्ग्रन्थ है। निर्ग्रन्थ होने का अर्थ है, राग-द्वेष या आसक्ति रूपी गाँठ का खुल जाना। जीवन में अन्दर और बाहर से एकरूप हो जाना, मुखौटों की जिन्दगी से दूर हो जाना, क्योंकि ग्रन्थि का निर्माण होता है रागभाव से, आसक्ति से, मायाचार या मुखौटों की जिन्दगी से। इस प्रकार आचारांग एक मनोवैज्ञानिक सत्य को प्रस्तुत करता है। आचारांग के अनुसार बन्धन और मुक्ति के तत्त्व बाहरी नहीं, आन्तरिक हैं। वह स्पष्ट रूप से कहता है कि—‘बन्धप्पमोक्खो तुज्झ अज्झत्येव’—१।५।२। बन्धन और मोक्ष हमारे अध्यवसायों किंवा मनोवृत्तियों पर निर्भर हैं। मानसिक बन्धन ही वास्तविक बन्धन है। वे गाँठें जिन्होंने हमें बाँध रखा है, वे हमारे मन की ही गाँठें हैं। वह स्पष्ट उद्घोषणा करता है कि—“कामेसु गिद्धा निचयं करेति”—१।३।२। कामभागों के प्रति आसक्ति से ही बन्धन की सृष्टि होती है। वह गाँठ जो हमें बाँधती है, आसक्ति की गाँठ है, ममत्व की गाँठ है, अज्ञान की गाँठ है। इस आसक्ति से प्रत्युत्पन्न हिंसा व्यक्ति की और संसार की सारी पीड़ाओं का मूल स्रोत है। यही जीवन में नरक की सृष्टि करती है, जीवन को नारकीय बनाती है। एस खलु गंथे, एस खलु मोहे, एस खलु मारे, एस खलु निरए—१।१।२। आचारांग के अनुसार विषय भोग के प्रति जो आतुरता है, वही समस्त पीड़ाओं की जननी है (आतुरा परितावेति—१।१।२।) यहाँ हमें स्पष्ट रूप से विश्व की समस्त पीड़ाओं का एक मनोवैज्ञानिक

विश्लेषण प्राप्त होता है। सूत्रकार स्पष्ट रूप से कहता है कि—“आसं च छंदं च विगिंच धीरे। तुमंच चेव तं सल्लमाहडु—१।२।४। हे धीरे पुरुष! विषय भोगों की आकांक्षा और तत्संबंधी संकल्प-विकल्पों का परित्याग करो। तुम स्वयं इस काँटे को अपने अन्तःकरण में रखकर दुःखी हो रहे हो। इस प्रकार आचारांग बन्धन, पीड़ा या दुःख के प्रति एक आत्मनिष्ठ एवं मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत करता है। वह कहता है—जे आसवा ते परिस्सवा जे परिस्सवा, ते आसवा (१।४।२) अर्थात् बाहर में जो बन्धन के निमित्त हैं वे भी कभी मुक्ति के निमित्त बन जाते हैं। इसका आशय यही है कि बन्धन और मुक्ति का सारा खेल साधक के अंतरंग भावों पर आधारित है। यदि इसी प्रश्न पर हम आधुनिक मनोविज्ञान की दृष्टि से विचार करें तो यह पाते हैं कि आधुनिक मनोविकृतियों के कारणों का विश्लेषण करते हुए स्पष्ट रूप से यह बताया गया है कि आकांक्षाओं का उच्चस्तर ही मन में कुण्ठाओं को उत्पन्न करता है और उन कुण्ठाओं के कारण मनोग्रन्थियों की रचना होती है, जो अन्ततोगत्वा व्यक्ति में मनोविकृतियों को उत्पन्न करती है।

मनोवृत्तियों की सापेक्षता

आचारांगसूत्र में क्रोध, मान, माया, लोभ, राग (प्रेम), द्वेष, मोह आदि की परस्पर की सापेक्षता को सूचित करते हुए यह बताया गया है कि जो इनमें से किसी एक को भी सम्यक् प्रकार जान लेता है वह अन्य सभी को जान लेता है और जो एक पर पूर्ण विजय प्राप्त कर लेता है, वह अन्य सभी पर विजय प्राप्त कर लेता है। (जे एगं जाणइ से सव्वं जाणइ, जे सव्वं जाणइ से एगं जाणइ, जे एगं नामे से बहुं नामे जे बहुं नामे से एगं नामे—१।३।४) आश्चर्य यही है कि अभी तक इन सूत्रों के तत्त्वमीमांसीय या ज्ञानमीमांसीय अर्थ लगाये गये और इनके मनोवैज्ञानिक सन्दर्भ को ओझल किया गया, जबकि ये सूत्र विशुद्ध रूप से मनोवैज्ञानिक हैं, क्योंकि इस उद्देशक का सम्पूर्ण सन्दर्भ कषायों से सम्बन्धित है, जो मनोविज्ञान का विषय है। इन कषायों के दुश्क्र से वही मुक्त हो सकता है, जो अप्रमत्त चेता है, क्योंकि जैसे ही व्यक्ति इनके प्रति सजग बनता है, इनके कारणों और परिणामों को देखने लगता है, वह मनोवृत्तियों के पारस्परिक सम्बन्ध स्पष्ट होते हुए पाता है। जब व्यक्ति क्रोध को देखता है, तो क्रोध के कारणभूत द्वेषभाव और द्वेष के कारणभूत रागभाव को भी देख लेता है। जब वह अहं या मान का द्रष्टा बनता है, तो अहं की तुष्टि के लिये मायावी मुखौटों का जीवन भी उसके सामने स्पष्ट हो जाता है। सूत्रकार ने पूरी स्पष्टता के साथ इस बात को प्रस्तुत किया कि किस प्रकार किसी एक मनोवृत्ति (कषाय) का द्रष्टा दूसरी सभी सापेक्ष रूप में रही हुई मनोवृत्तियों का द्रष्टा बन जाता है। वह कहता है—जो क्रोध को देखता है, वह मान (अहंकार) को देख लेता है। जो मान को देखता है वह माया (कपटवृत्ति) को देख लेता है। जो माया को देखता है वह लोभ को देख लेता है। जो लोभ को देखता है वह राग-द्वेष को देख लेता है। जो राग-द्वेष को देखता है,

वह मोह (अविद्या) को देख लेता है, और जो मोह को देखता है वह गर्भ (भावी जन्म) को देखता है और जो गर्भ को देखता है वह जन्म-मरण की प्रक्रिया को देख लेता है। इस प्रकार एक कषाय का सम्यक् विश्लेषण उससे संबंधित अन्य कषायों का तथा उनके परिणामों और कारणों का सम्यक् बोध करा देता है (१।३।४); क्योंकि सभी मनोवृत्तियाँ परस्पर सापेक्ष होकर रहती हैं। जहाँ मोह होता है वहाँ राग-द्वेष होते हैं, वहाँ लोभ होता ही है। जहाँ लोभवृत्ति होती है वहाँ माया या कपटाचार आ ही जाता है। जहाँ कपटाचार होता है वहाँ उसके पीछे मान या अहंकार का प्रश्न जुड़ा रहता है और जहाँ मान या अहंकार होता है उसके साथ क्रोध जुड़ा रहता है। राग के बिना द्वेष का और द्वेष के बिना राग का टिकाव नहीं है। इसी प्रकार क्रोध का टिकाव अहंकार पर और अहंकार का टिकाव मायाचार पर, मायाचार का टिकाव लोभ पर निर्भर करता है। कोई भी कषाय दूसरी कषाय से पूरी तरह निरपेक्ष होकर नहीं रह सकती है, अतः किसी एक कषाय का समग्र भाव से विजेता सभी कषायों का विजेता बन जाता है और एक का द्रष्टा सभी का द्रष्टा बन जाता है।

कषाय-विजय का उपाय : द्रष्टा या साक्षीभाव

आचारांग में मुनि और अमुनि का अन्तर स्पष्ट करते हुए बताया गया है कि जो सोता है, वह अमुनि है, जो जागता है वह मुनि है। यहाँ जागने का तात्पर्य है अपने प्रति, अपनी मनोवृत्तियों के प्रति सजग होना या अप्रमत्तचेता होना है। प्रश्न हो सकता है कि अप्रमत्तचेता या सजग होना क्यों आवश्यक है? वस्तुतः जब व्यक्ति अपने अन्तर में झाँककर अपनी वृत्तियों का द्रष्टा बनता है तो दुर्विचार और दुष्प्रवृत्तियाँ स्वयं विलीन होती जाती हैं। जब घर का मालिक जागता है तो चोर प्रवेश नहीं करते हैं, उसी प्रकार जो साधक सजग हैं, अप्रमत्त हैं, तो उनमें कषायें पनप नहीं सकतीं, क्योंकि कषाय स्वयं प्रमाद है, तथा प्रमाद और अप्रमाद एक साथ नहीं रह सकते हैं। अतः अप्रमाद होने पर कषाय पनप नहीं सकते। आचारांगसूत्र में बार-बार कहा गया है,—‘तू देख’ ‘तू देख’ (पास! पास!)। यहाँ देखने का तात्पर्य है अपने प्रति या अपनी वृत्तियों के प्रति सजग होना। क्योंकि जो द्रष्टा है, वही निरुपाधिक दशा को प्राप्त हो सकता है (किमत्थि उवाही पासगस्स, ण विज्जइ? नत्थि १।३।४)।

वस्तुतः आत्मा जब अपने शुद्ध ज्ञाता स्वरूप में अवस्थित होती है, संसार के समस्त पदार्थ ही नहीं वरन् उसकी अपनी चित्तवृत्तियाँ और मनोभाव भी उसे ‘पर’ (स्व से भिन्न) प्रतीत होते हैं। जब वह ‘पर’ को ‘पर’ के रूप में जान लेता है और उससे अपनी पृथक्ता का बोध कर लेता है तब वह अपने शुद्ध ज्ञायक स्वरूप को जानकर उसमें अवस्थित हो जाता है। यही वह अवसर होता है, जब मुक्ति का द्वार उद्घाटित होता है, क्योंकि जिसने ‘पर’ को ‘पर’ के रूप में जान लिया है उसके लिए ममत्व या राग के लिए कोई स्थान ही

नहीं रहता है। राग के गिर जाने पर वीतरागता का प्रकटन होता है, और मुक्ति का द्वार खुल जाता है।

मन के पवित्रीकरण की मनोवैज्ञानिक विधि

चित्त को अपवित्र नहीं होने देने के लिये मन की वृत्तियों को देखना जरूरी है, क्योंकि यह मन को दुष्प्रवृत्तियों से बचाने की एक मनोवैज्ञानिक पद्धति है। आधुनिक मनोविज्ञान के अनुसार मन एक ही समय में द्रष्टा और कर्ता की दो भूमिकाओं का निर्वाह नहीं कर सकता है। उदाहरण के लिए वह अपने क्रोध का कर्ता एवं द्रष्टा एक साथ नहीं हो सकता। मन जब कर्ता से द्रष्टा की भूमिका में आता है तो मनोविकार स्वयं विलीन होने लगते हैं। मन तो स्वतः ही वासना और विकार से मुक्त हो जाता है। इसलिये कहा गया है—अप्पमतो कामेहिं उवरतो—१।२।१। सव्वतो पमत्तस्स भयं—अप्पमतस्स नत्थि भयं—१।३।४। जो अप्रमत्त है वह कामनाओं से और पाप कर्मों से उपरत है, प्रमत्त को ही विषय-विकार में फँसने का भय है अप्रमत्त को नहीं। अप्रमत्तता या सम्यग्द्रष्टा की अवस्था में पाप-कर्म असम्भव हो जाता है, इसीलिये कहा गया है—सम्मत्तदंसी न करेइ पावं—१।३।२ अर्थात् सम्यग्द्रष्टा कोई पाप नहीं करता है। आचारांग में मन को जानने अथवा अप्रमत्त चेतना की जो बात बार-बार कही गई है, वह मन को वासनामुक्त करने का या मन के पवित्रीकरण का एक ऐसा उपाय है जिसकी प्रामाणिकता आधुनिक मनोविज्ञान के प्रयोगों से सिद्ध हो चुकी है। जब साधक अप्रमत्त चेतना से-युक्त होकर द्रष्टाभाव में स्थित होता है तब सारी वासनार्यें और सारे आवेग स्वतः शिथिल हो जाते हैं। इसी प्रकार 'अन्यत्र यह कहकर कि "आयंकदंसी न करेइ पावं —१।३।२।" पुनः एक मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया गया है। जो अपनी पीड़ा या वेदना को देख लेता है उसके लिये पाप कर्म में फँसना एक मनोवैज्ञानिक असम्भावना बन जाती है। जब व्यक्ति पापकर्म या हिंसा जनित पीड़ा का स्वयं आत्मनिष्ठ रूप में अनुभव करता है, हिंसा करना उसके लिये असम्भव हो जाता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सूत्रकार पाप से विरत होने के लिए मनोवैज्ञानिक सत्यों पर अधिष्ठित पद्धति प्रस्तुत करता है।

धर्म की मनोवैज्ञानिक व्याख्या

आचारांग में अहिंसा, समाधि और प्रज्ञा को मोक्षमार्ग कहा गया है। इसमें अहिंसा को पूर्ण स्थान दिया गया है। यहाँ साधना का क्रम अन्दर से बाहर की ओर न होकर बाहर से अन्दर की ओर है, जो अधिक मनोवैज्ञानिक है। अहिंसा की साधना के द्वारा जब तक परिवेश एवं चित्तवृत्ति निराकुल नहीं बनेगी, समाधि नहीं होगी और जब तक समाधि नहीं आएगी प्रज्ञा का उदय नहीं होगा। इस सन्दर्भ में आचारांग के दृष्टिकोण में और परवर्ती जैन दर्शन के दृष्टिकोण में स्पष्ट अन्तर है। वह आचार-शुद्धि से विचार-शुद्धि की ओर बढ़ता है।

आचारांग में धर्म क्या है? इसके दो निर्देश हमें उपलब्ध होते हैं। प्रथम श्रुतस्कन्ध के चतुर्थ अध्ययन के प्रथम उद्देशक के प्रारम्भ

में अहिंसा को शाश्वत, नित्य और शुद्ध धर्म कहा गया है, (सव्वे भूया, सव्वे जीवा सव्वे सत्ता न हंतव्वा---एस धम्मो सुद्धे, निइए, सासए समिच्च लोये खेयण्णेहिं पवेइए—१।४।१) और प्रथम श्रुतस्कन्ध के आठवें अध्याय के तीसरे उद्देशक में समता को धर्म कहा गया है, समियाए धम्मो आरियेहिं पवेइए (१।८।३) वस्तुतः धर्म की ये दो व्याख्याएँ दो दृष्टिकोणों का प्रतिनिधित्व करती हैं। अहिंसा व्यावहारिक समाज सापेक्ष धर्म है, जबकि वैयक्तिक एवं आन्तरिक दृष्टि से समभाव ही धर्म है। सैद्धांतिक दृष्टि से अहिंसा और समभाव में अभेद है, किन्तु व्यावहारिक दृष्टि से वे अलग हैं। समभाव की बाह्य अभिव्यक्ति अहिंसा बन जाती है और यही अहिंसा जब स्वकेन्द्रित (स्वदया) होती है तो समभाव बन जाती है।

समत्व या समता धर्म क्यों?

यह प्रश्न स्वाभाविक रूप से उत्पन्न होता है कि समता को धर्म क्यों माना जावे? जैन परम्परा के परवर्ती ग्रन्थों में धर्म की व्याख्या 'वत्थु-सहावो धम्मो' के रूप में की गई है, अतः समता को तभी धर्म माना जा सकता है जबकि वह प्राणीय स्वभाव सिद्ध हो जावे, जरा इस प्रश्न पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से विचार करें।

जैन दर्शन में मानव-प्रकृति एवं प्राणीय प्रकृति का गहन विश्लेषण किया गया है। महावीर से जब यह पूछा गया कि आत्मा क्या है? आत्मा का साध्य या आदर्श क्या है? तब महावीर ने इस प्रश्न का जो उत्तर दिया था वह आज भी मनोवैज्ञानिक दृष्टि से सत्य है। महावीर ने कहा था—आत्मा समत्व रूप है और समत्व ही आत्मा का साध्य है (आयाए सामाइए आया सामाइस्स अट्ठे—भगवतीसूत्र)। वस्तुतः जहाँ भी जीवन है, चेतना है, वहाँ समत्व के संस्थापन के अनवरत प्रयास चल रहे हैं। परिवेशजन्य विषमताओं को दूर कर समत्व के लिये प्रयासशील बने, यह जीवन या चेतना का मूल स्वभाव है। शारीरिक एवं मानसिक स्तर पर समत्व का संस्थापन ही जीवन का लक्षण है। डा० राधाकृष्णन् के शब्दों में 'जीवन गतिशील सन्तुलन है।' (जीवन की आध्यात्मिक दृष्टि, पृ० २५९)। स्पेन्सर के अनुसार परिवेश में निहित तथ्य जीवन के संतुलन को भंग करते रहते हैं और जीवन अपनी क्रियाशीलता के द्वारा पुनः इस संतुलन को बनाने का प्रयास करता है। यह संतुलन बनाने का प्रयास ही जीवन की प्रक्रिया है (फर्स्ट प्रिंसिपल्स—स्पेन्सर, पृ० ६६)। विकासवादियों ने इसे ही अस्तित्व के लिये संघर्ष कहा है, किन्तु मेरी अपनी दृष्टि में इसे अस्तित्व के लिये संघर्ष कहने की अपेक्षा समत्व के संस्थापन का प्रयास कहना ही अधिक उचित है। समत्व के संस्थापन एवं समायोजन की प्रक्रिया ही जीवन का महत्वपूर्ण लक्षण है।

इस प्रकार जैन दर्शन में समभाव या वीतराग दशा को ही नैतिक जीवन का आदर्श माना गया है। यह बात मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी सही उतरती है। संघर्ष नहीं, अपितु समत्व ही जीवन का आदर्श हो सकता है, क्योंकि यही हमारा स्वभाव है और जो स्व स्वभाव है वही आदर्श है। स्वभाव से भिन्न आदर्श की कल्पना अयथार्थ है।

स्पेन्सर, डार्विन एवं आर्म्स प्रभृति कुछ पाश्चात्य विचारक संघर्ष को ही जीवन का स्वभाव मानते हैं, लेकिन यह एक मिथ्या धारणा है। आधुनिक विज्ञान के अनुसार वस्तु का स्वभाव वह होता है, जिसका निराकरण नहीं किया जा सकता। जैन दर्शन के अनुसार नित्य और निरपवाद वस्तुधर्म ही स्वभाव है। यदि हम इसे कसौटी पर कसें तो संघर्ष एवं तनाव जीवन का स्वभाव सिद्ध नहीं होता है। द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद के अनुसार मनुष्य-स्वभाव संघर्ष है, मानवीय इतिहास वर्ग-संघर्ष की कहानी है। संघर्ष ही जीवन का नियम है। किन्तु यह एक मिथ्या धारणा है। यदि संघर्ष ही जीवन का नियम है, तो फिर द्वन्द्वात्मक भौतिकवाद संघर्ष का निराकरण क्यों करना चाहता है, संघर्ष मिटाने के लिए होता है। जो मिटाने की, निराकरण करने की वस्तु है, क्या उसे स्वभाव कहा जा सकता है? संघर्ष यदि मानव इतिहास का एक तथ्य है तो वह उसके दोषों का इतिहास है, उसके स्वभाव का इतिहास नहीं। मानव स्वभाव संघर्ष नहीं, संघर्ष का निराकरण या समत्व की साधना है, क्योंकि युगों से मानवीय प्रयास उसी के लिए हो रहे हैं।

संघर्ष अथवा समत्व से विचलन जीवन में पाये जाते हैं, लेकिन वे जीवन के स्वभाव नहीं हैं, क्योंकि जीवन की प्रक्रिया उनको समाप्त करने की दिशा में ही प्रयासशील है। समता की उपलब्धि ही मनोवैज्ञानिक दृष्टि से जीवन का साध्य है। कामना, आसक्ति, राग-द्वेष, वितर्क आदि सभी मानसिक असंतुलन एवं तनाव की अवस्था को अभिव्यक्त करते हैं। अतः आचारांग में इन्हें अशुभ माना गया है। इसके विपरीत वासनाशून्य, वितर्कशून्य, निष्काम, अनासक्त, वीतराग अवस्था ही जीवन का आदर्श है क्योंकि वह समत्व की स्थिति है। राग और द्वेष की वृत्तियाँ हमारे चेतन समत्व को भंग करती हैं, अतः उनसे ऊपर उठकर वीतरागता की अवस्था को प्राप्त कर लेना ही सच्चे समत्व की अवस्था है। वस्तुतः समत्व की उपलब्धि आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों की दृष्टि से मानव जीवन का साध्य मानी जा सकती है और जो जीवन का साध्य एवं स्वभाव हो, वही धर्म कहा जा सकता है। आचारांग स्पष्ट रूप से कहता है कि जो समता को जानता है वही मुनि धर्म को जानता है।

आचारांग में अहिंसा का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण

आचारांग में अहिंसा के सिद्धान्त को मनोवैज्ञानिक आधार पर ही स्थापित करने का प्रयास किया गया है। अहिंसा को अर्हत्-प्रवचन का सार और शुद्ध एवं शाश्वत धर्म बताया गया है।

सर्वप्रथम हमें विचार करना है कि अहिंसा को ही धर्म क्यों माना जावे। सूत्रकार इसका बड़ा मनोवैज्ञानिक उत्तर प्रस्तुत करता है। वह कहता है कि सभी प्राणियों में जिजीविषा प्रधान है, पुनः सभी को सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल है (सर्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुक्खपडिकूला—१।२।३), अहिंसा का अधिष्ठान यही मनोवैज्ञानिक सत्य है। अस्तित्व और सुख की चाह प्राणीय स्वभाव है। जैन विचारकों ने इसी मनोवैज्ञानिक तथ्य के आधार पर अहिंसा

को स्थापित किया है। यद्यपि मेकेंजी ने “भय” को अहिंसा का आधार माना है, किन्तु उसकी यह धारणा गलत है, क्योंकि भय के सिद्धान्त को यदि अहिंसा का आधार बनाया जायेगा तो व्यक्ति केवल सबल की हिंसा से विरत होगा, निर्बल की हिंसा से नहीं। भय को आधार मानने पर तो जिससे भय होगा उसी के प्रति अहिंसक बुद्धि बनेगी, जबकि आचारांग तो प्राणियों के प्रति यहाँ तक कि वनस्पति, जल और पृथ्वीकायिक जीवों के प्रति भी अहिंसक होने की बात करता है। अतः आचारांग में अहिंसा को भय के आधार पर नहीं, अपितु जिजीविषा और सुखाकांक्षा के मनोवैज्ञानिक सत्त्यों के आधार पर अधिष्ठित किया गया है। पुनः अहिंसा को इन मनोवैज्ञानिक सत्त्यों के साथ-साथ तुल्यता बोध के बौद्धिक सिद्धान्त पर खड़ा किया गया। वहाँ कहा गया है कि ‘जे अज्झत्थं जाणइ से बहिया जाणइ---एयं तुल्लमत्रेसि’—१।१।७। जो अपनी पीड़ा को जान पाता है वही तुल्यता बोध के आधार पर दूसरों की पीड़ा को भी समझ सकता है। यह प्राणीय पीड़ा की तुल्यता बोध के आधार पर होने वाला आत्मसंवेदन ही अहिंसा का आधार है। सूत्रकार तो अहिंसा के इस सिद्धान्त को अधिक गहराई तक अधिष्ठित करने के प्रयास स्वरूप यहाँ तक कह देता है कि जिसे तू मारना चाहता है, पीड़ा देना चाहता है, सताना चाहता है, वह तू ही है (आचारांग, १।५।५)। आगे कहता है कि जो लोग (लोक) का अपलाप करता है वह स्वयं अपनी आत्मा का अपलाप करता है (आचारांग, १।१।३)। यहाँ अहिंसा को अधिक गहन मनोवैज्ञानिक आधार देने के प्रयास में वह जैन दर्शन के आत्मा सम्बन्धी अनेकात्मवाद के स्थान पर एकात्मवाद की बात करता सा प्रतीत होता है, क्योंकि यहाँ वह इस मनोवैज्ञानिक सत्य को देख रहा है कि केवल आत्मभाव में हिंसा असम्भव हो सकती है। जब तक दूसरे के प्रति पर बुद्धि है, परायेपन का भाव है, तब तक हिंसा की सम्भावनाएँ उपस्थित हैं। व्यक्ति के लिए हिंसा तभी असम्भव हो सकती है जब उसमें प्राणी जगत् के प्रति अपनत्व या आत्मीय दृष्टि जागृत हो। अहिंसा की स्थापना के लिए जो मनोवैज्ञानिक भूमिका अपेक्षित थी उसे प्रस्तुत करने में सूत्रकार ने आत्मा की वैयक्तिकता की धारणा का भी अतिक्रमण कर उसे अभेद की धारणा पर स्थापित करने का प्रयास किया है। हिंसा के निराकरण के प्रयास में भी सूत्रकार ने एक ओर इस मनोवैज्ञानिक सत्य को उजागर किया है कि हिंसा से हिंसा या घृणा से घृणा का निराकरण सम्भव नहीं है। वह तो स्पष्ट रूप से कहता है—शस्त्रों के आधार पर या भय और हिंसा के आधार पर शान्ति की स्थापना सम्भव नहीं है, क्योंकि एक शस्त्र का प्रतिकार दूसरे शस्त्र के द्वारा सम्भव है। शान्ति की स्थापना तो अहिंसा या प्रेम द्वारा ही सम्भव है, क्योंकि अशस्त्र से बढ़कर कुछ अन्य नहीं है (आचारांग, १।३।४)।

आचारांग में मानवीय व्यवहार के प्रेरक तत्त्व

सामान्यतया राग और द्वेष ये दो कर्म-बीज माने गये हैं, किन्तु इनमें भी राग ही प्रमुख तथ्य है। आचारांगसूत्र में कहा गया है कि

आसक्ति ही कर्म का प्रेरक तथ्य है (१।३।२)। आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों ही इस सम्बन्ध में एकमत हैं कि मानवीय व्यवहार का मूलभूत प्रेरक तत्त्व वासना या काम है। फिर भी आचारांग और आधुनिक मनोविज्ञान दोनों में वासना के मूलभूत प्रकार कितने हैं, इस सम्बन्ध में कोई निश्चित संख्या नहीं मिलती है। पाश्चात्य मनोविज्ञान में जहाँ फ्रायड काम या राग को ही एकमात्र मूल प्रेरक मानते हैं, वहीं दूसरे विचारकों ने मूलभूत प्रेरकों की संख्या सौ तक मानी है। फिर भी पाश्चात्य मनोविज्ञान में सामान्यतया निम्न १४ मूल प्रवृत्तियाँ मानी गई हैं—

१. पलायनवृत्ति (भय) २. घृणा, ३. जिज्ञासा, ४. आक्रामकता (क्रोध), ५. आत्मगौरव (मान), ६. आत्महीनता, ७. मातृत्व की संप्रेरणा, ८. समूह भावना, ९. संग्रहवृत्ति, १०. रचनात्मकता, ११. भोजनावेषण, १२. काम, १३. शरणागति और १४. हास्य (आमोद)। आचारांगसूत्र में भय, जिज्ञासा, क्रोध, मान, माया, लोभ, राग-द्वेष, आत्मीयता, हास्य आदि का यत्र-तत्र बिखरा हुआ उल्लेख उपलब्ध है। इसके अतिरिक्त हिंसा के कारणों का निर्देश करते हुए कुछ कर्म प्रेरकों का उल्लेख उपलब्ध है। यथा जीवन जीने के लिये, प्रशंसा और मान-सम्मान पाने के लिए, जन्म-मरण से छुटकारा पाने के लिए तथा शारीरिक एवं मानसिक दुःखों की निवृत्ति हेतु प्राणी हिंसा करता है (१।१।४)।

आचारांग का सुखवादी दृष्टिकोण

आधुनिक मनोविज्ञान हमें यह भी बताता है कि सुख सदैव अनुकूल इसलिए होता है कि उसका जीवन शक्ति को बनाये रखने की दृष्टि से दैहिक मूल्य है और दुःख इसलिए प्रतिकूल होता है कि वह जीवन शक्ति का ह्रास करता है। यही सुख-दुःख का नियम समस्त प्राणीय व्यवहार का चालक है। आचारांग भी प्राणीय व्यवहार के चालक के रूप में इसी सुख-दुःख के नियम को स्वीकार करता है (आचारांग, १।२।३)। अनुकूल के प्रति आकर्षण और प्रतिकूल के प्रति विकर्षण, यह इन्द्रिय स्वभाव है। अनुकूल विषयों की ओर प्रवृत्ति, प्रतिकूल विषयों से निवृत्ति यह एक नैसर्गिक तथ्य है, क्योंकि सुख अनुकूल और दुःख प्रतिकूल होता है। वस्तुतः प्राणी सुख को प्राप्त करना चाहता है और दुःख से बचना चाहता है। वासना ही अपने विधानात्मक रूप में सुख और निषेधात्मक रूप में दुःख का रूप ले लेती है, जिससे वासना की पूर्ति हो वही सुख और जिससे वासना की पूर्ति न हो अथवा वासना पूर्ति में बाधा उत्पन्न हो वह दुःख। इस प्रकार वासना ही सुख-दुःख के भाव उत्पन्न होकर प्राणीय व्यवहार का नियमन करने लगते हैं।

दमन का प्रत्यय और आचारांग

सामान्यतया आचारांग में इन्द्रिय-संयम पर काफी बल दिया गया है। वह तो शरीर को सुखा डालने की बात भी कहता है। लेकिन प्रश्न यह है कि क्या पूर्ण इन्द्रिय-निरोध सम्भव है? आधुनिक मनोविज्ञान

की दृष्टि से इन्द्रिय व्यापारों का निरोध एक अस्वाभाविक तथ्य है। आँख के समक्ष जब उसका विषय प्रस्तुत होता है तो वह उसके सौन्दर्य दर्शन से वंचित नहीं रह सकती। भोजन करते समय स्वाद को अस्वीकार नहीं किया जा सकता। अतः यह विचारणीय प्रश्न है कि इन्द्रिय दमन के सम्बन्ध में क्या आचारांग का दृष्टिकोण आधुनिक मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण से सहमत है? आचारांग इस प्रश्न का उत्तर देते हुए यही बात कहता है कि इन्द्रिय व्यापारों के निरोध का अर्थ इन्द्रियों को अपने विषयों से विमुख करना नहीं, वरन् विषय सेवन के मूल में जो निहित राग-द्वेष हैं उन्हें समाप्त करना है। इस सम्बन्ध में उसमें जो मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण प्रस्तुत किया गया है, वह विशेष रूप से द्रष्टव्य है। उसमें कहा गया है कि यह शक्य नहीं कि कानों में पड़ने वाले अच्छे या बुरे शब्द सुने न जाएँ, अतः शब्दों का नहीं, शब्दों के प्रति जगने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं कि आँखों के सामने वाला अच्छा या बुरा रूप न देखा जाये अतः रूप का नहीं, अपितु रूप के प्रति जागृत होने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि नासिका के समक्ष आयी हुई सुगन्ध सूँघने में न आए अतः गन्ध की नहीं, किन्तु गन्ध के प्रति आने वाले राग-द्वेष की वृत्ति का त्याग करना चाहिए। यह शक्य नहीं है कि जीभ पर आया हुआ अच्छा या बुरा रस चखने में न आये। अतः रस का नहीं किन्तु रस के प्रति जागने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिये। यह शक्य नहीं है कि शरीर से सम्पर्क होने वाले अच्छे या बुरे स्पर्श की अनुभूति न हो। अतः स्पर्श नहीं, किन्तु स्पर्श के प्रति जागने वाले राग-द्वेष का त्याग करना चाहिये (आचारांग २।१५।१०१-१०५)। उत्तराध्ययन में भी इसकी पुष्टि की गई है। उसमें कहा गया है कि इन्द्रियों के मनोज्ञ अथवा अमनोज्ञ विषय आसक्त व्यक्ति के लिए राग-द्वेष के कारण नहीं होते हैं। ये विषय रागी पुरुषों के लिए ही दुःख (बन्धन) के कारण होते हैं, वीतरागियों के बन्धन या दुःख का कारण नहीं हो सकते हैं। काम-भोग न किसी को बन्धन में डालते हैं और न किसी को मुक्त ही कर सकते हैं, किन्तु जो विषयों में राग-द्वेष करता है, वही राग-द्वेष से विकृत होता है (उत्तराध्ययन ३२। १००-१०१)।

जैन दर्शन के अनुसार साधना का सच्चा मार्ग औपशमिक नहीं वरन् क्षायिक है। औपशमिक मार्ग का अर्थ वासनाओं का दमन है। इच्छाओं के निरोध का मार्ग औपशमिक मार्ग है। आधुनिक मनोवैज्ञानिक की दृष्टि में यह दमन का मार्ग है, जबकि क्षायिक मार्ग वासनाओं के निरसन का मार्ग है। वह वासनाओं से ऊपर उठाता है। यह दमन नहीं, अपितु चित्त विशुद्धि है। दमन तो मानसिक गन्दगी को ढकने मात्र में है और जैन दर्शन इस प्रकार के दमन को स्वीकार नहीं करता। जैन दार्शनिकों ने गुणस्थान प्रकरण में यह स्पष्ट रूप से बताया है कि वासनाओं को दबाकर आने वाली साधना विकास की अग्रिम कक्षाओं से अनिवार्यतया पदच्युत हो जाती है। इस प्रकार हम देखते हैं कि जैन-दर्शन भी आधुनिक मनोवैज्ञानिक के समान ही दमन को साधना का सच्चा मार्ग नहीं मानता है। उसके अनुसार साधना का सच्चा मार्ग

वासनाओं का दमन नहीं, अपितु उनसे ऊपर उठ जाना है। वह इन्द्रिय निग्रह नहीं, अपितु ऐन्द्रिक अनुभूतियों में भी मन की वीतरागता या समत्व की अवस्था है।

अतः यह स्पष्ट है कि आचारांगसूत्र अपनी विवेचनाओं में मनोवैज्ञानिक आधारों पर खड़ा हुआ है। उत्तम आचार के जो नियम-उपनियम बनाये गये हैं, वे भी उसकी मनोवैज्ञानिक दृष्टि के परिचायक हैं, किन्तु यहाँ उन सबकी गहराइयों में जाना सम्भव नहीं है। यद्यपि इस सम्पूर्ण विवेचना का यह अर्थ भी नहीं है कि आचारांग में जो कुछ कहा गया, वह सभी मनोवैज्ञानिक सत्यों पर आधारित है। अहिंसा, समता और अनासक्ति के जो आदर्श उसमें प्रस्तुत किये गए हैं, वे चाहे मनोवैज्ञानिक आधारों पर अधिष्ठित हों, किन्तु उनकी जीवन में पूर्ण उपलब्धि की संभावनाओं पर मनोवैज्ञानिक दृष्टि से ही प्रश्न चिह्न भी लगाया जा सकता है। ये आदर्श के रूप में चाहे कितने ही सुहावने हों, किन्तु मानव जीवन में इनकी व्यावहारिक सम्भावना कितनी है, यह विवाद का विषय बन सकता है। फिर भी मानवीय-दुर्बलता के आधार पर उनसे विमुख होना उचित नहीं होगा। क्योंकि इनके द्वारा ही न केवल मनुष्य का आध्यात्मिक विकास होगा, अपितु लोक मंगल की भावना भी साकार बन सकेगी।

आचारांग में प्रतिपादित तत्त्वज्ञान

जैसा कि हम संकेत कर चुके हैं कि आचारांग मूलतः दर्शन का ग्रन्थ न होकर आचार शास्त्र का ग्रन्थ है फिर भी ऐसा नहीं कहा जा सकता है कि उसमें दर्शन के तत्त्वों का पूर्णतः अभाव है। आचारांग का प्रारम्भ ही एक पारिणामिक नित्य आत्मा की अवधारणा से होता है। आचारांग आत्मा और पुनर्जन्म की अवधारणा को स्वीकार करके चलता है। वह कर्म की अवधारणा को भी स्वीकार करता है तथा यह मानता है कि कर्म ही बन्धन के कारण हैं। यदि हम सूक्ष्मता से देखें तो उसमें कर्म को पौद्गलिक मानकर कर्म-शरीर का भी उल्लेख किया गया है, और साधक को कहा गया है कि वह कर्म शरीर का ही विधूनी करे। इसी प्रकार आचारांग में आश्रव, संवर और प्रकारान्तर से निर्जरा की व्यवस्थायें भी उपलब्ध हो जाती हैं। आचारांग मुक्तात्मा के अनिवर्चनीय स्वरूप की भी औपनिषदिक शैली में व्याख्या

करता है।

अतः हम कह सकते हैं कि संक्षेप में आत्मा, पुनर्जन्म, कर्म, बन्धन, आश्रव, संवर, निर्जरा और मुक्ति इन सब अवधारणाओं को चाहे संक्षेप में ही क्यों न सही, स्वीकार करके चलता है। फिर भी उपर्युक्त विवेचन से इतना स्पष्ट हो जाता है कि आचारांग, दर्शन के सम्बन्ध में केवल उन्हीं तथ्यों को रखना चाहता है जो उसके आचार-शास्त्र की पूर्व मान्यता के लिए अपरिहार्य हैं। जैनधर्म का जो विकसित तत्त्वज्ञान है उसका उसमें अभाव ही देखा जाता है, जीव और पुद्गल को छोड़कर आकाश, धर्म, अधर्म और काल की उसमें कोई स्वतन्त्र व्याख्या नहीं।

आचारांग के आचार-नियम

जहाँ तक आचारांग में प्रतिपादित आचार नियमों का प्रश्न है मूलतः वे सभी नियम अहिंसा के केन्द्र में रखकर बनाये गये हैं। आचारांग के आचार नियमों का केन्द्रबिन्दु अहिंसा का परिपालन ही है। जीवन में अहिंसा और अनासक्ति को किस चरमसीमा तक अपनाया जा सकता है इसका आदर्श हमें आचारांग में देखने को मिल सकता है। आचारांग के दो श्रुतस्कन्धों में जहाँ प्रथम श्रुतस्कन्ध आचार के सामान्य सिद्धान्तों को प्रस्तुत करता है वहाँ द्वितीय श्रुतस्कन्ध उसके व्यवहार पक्ष को स्पष्ट करने का प्रयास करता है। विद्वानों ने आचारांग के दूसरे श्रुतस्कन्ध को प्रथम श्रुतस्कन्ध की व्यावहारिक व्याख्या ही माना है। प्रथम श्रुतस्कन्ध में मूलतः अहिंसा, अनासक्ति तथा कषायों और वासनाओं के विजय का सूत्र रूप में संकेत किया गया है। जबकि दूसरे श्रुतस्कन्ध में इनसे ऊपर उठकर कैसा जीवन जिया जा सकता है इसका चित्रण किया गया है। दूसरा श्रुतस्कन्ध मूलतः मुनि जीवन में भोजन, वस्त्र, पात्र आदि सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति किस प्रकार की जाय इसका विस्तार से विवेचन करता है। इस श्रुतस्कन्ध का अन्तिम भाग जहाँ एक ओर महावीर का जीवनवृत्त प्रस्तुत करता है वहीं दूसरी ओर वह इन्द्रिय विजय की मनोवैज्ञानिक प्रक्रिया पर भी प्रकाश डालता है। यद्यपि आचारांग का आचारपक्ष व्यावहारिक दृष्टि से कठोर कहा जा सकता है, किन्तु उसमें साधना के जिस आदर्श स्वरूप का चित्रण है, उसके मूल्य को नकारा नहीं जा सकता।